

## पंचम अध्याय

### भाषा और आलोचना : समग्र मूल्यांकन

आलोचना हिंदी साहित्य की आधुनिक विधा है और इसका इतिहास इतना पुराना नहीं है कि स्वयं इस विधा की व्याख्या या मूल्यांकन की दृष्टियाँ और कसौटियाँ बहुत समृद्ध या जाँची-परखी हों। विधा के रूप में आलोचना की विधागत विशेषताओं, अन्य साहित्य रूपों से इसकी भाषा की विभिन्नता या विशिष्टता पर व्यावहारिक विश्लेषण या सैद्धांतिक विवेचन सम्यक रूप से नहीं मिलते। 1960 के दशक के बाद से नामवर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, परमानंद श्रीवास्तव, अशोक वाजपेयी, मैनेजर पांडेय के यहाँ आलोचना-भाषा के प्रति जागरूकता और उसके फलस्वरूप इस पर चिंतन मिलता है। मात्रा में यह सामग्री कम है, लेकिन अपने सवालों और निष्कर्षों में गम्भीर है। इनके अलावा हिंदी के नये-पुराने आलोचकों के यहाँ आलोचना-भाषा संबंधी विचार व टिप्पणियाँ यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हीं के आधार पर इस अध्याय में भाषा और आलोचना के अंतर्संबंध के समग्र मूल्यांकन का प्रयास किया गया है।

## 5.1 भाषा और आलोचना का अंतर्संबंध

भाषा और आलोचना के अंतर्संबंध के दो पहलू हैं-

1. आलोचना एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो साहित्य की अन्य विधाओं को उपजीव्य बनाकर अपना काम करती है। मानव की रचनात्मकता के कई आयाम हैं- चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, स्थापत्य कला, साहित्य आदि। साहित्य में मानव-मन की रचनात्मकता मूलतः भाषा में अभिव्यक्त होती है। साहित्य के रचनाकार के लिए भाषा जिस तरह प्राथमिक माध्यम है उसी तरह साहित्य के आलोचक के लिए भी आस्वाद का प्राथमिक माध्यम भाषा है। अतः साहित्यिक रचना की समीक्षा में प्रवृत्त होते हुए उसके वाहन या माध्यम भाषा की समीक्षा अनिवार्यतः आलोचक का प्रधान दायित्व हो जाता है।
2. भाषा चूँकि मानव-मन के सभी क्रियाकलापों को नियंत्रित करती है और आकार देती है, अतः आलोचक की दृष्टि और उसकी आलोचना-प्रक्रिया को भी भाषा प्रभावित करती है। आलोचक की भाषा, यानी जिस भाषा में वह आलोचना करता है, केवल एक माध्यम नहीं है बल्कि आलोचक के आलोचनात्मक रवैये को निर्धारित और चिह्नित करने वाली वस्तु भी है।

अर्थात् भाषा आलोचना के लिए अध्ययन की मुख्य वस्तु भी है और उसे रूप प्रदान करने वाली मुख्य वस्तु भी। हम देख चुके हैं कि सजग आलोचकों के यहाँ रचनाकार की भाषा के साथ-साथ आलोचना-भाषा के प्रति भी जागरूकता दिखाई पड़ती है।

हिंदी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचना विधा के अनुरूप एक गम्भीर विचारक्षम भाषा को गढ़ने के साथ-साथ आलोचना की भाषा पर विचार के सूत्र भी

प्रस्तुत किए हैं। साहित्यिक आलोचना रचनाकारों या रचना के गुण-दोष दिखाकर उन्हें पास या फेल करने की कवायद नहीं है। वह रचनाकार या रचना के मर्म में प्रवेशकर उसकी 'अंतःप्रवृत्तियों के उद्घाटन' के साथ-साथ युगानुसार उसके प्रदेय तथा युग का अतिक्रमण करने वाले उसके गुणों का विश्लेषण करती है; विश्लेषण की ऐसी काबिलियत हो तो आलोचना रचनाकार या रचना के मूल्यांकन की भी हकदार होती है। ऐसा करने के लिए 'महफिली तर्ज पर चुहलबाजी या शाबाशी' वाली प्रतिभा और आलोचना-भाषा काम नहीं आती। आलोचना का प्रमुख काम यह है कि वह साहित्य के पठन-पाठन, उस पर उच्च कोटि के अध्ययन-चिंतन के उपयुक्त परिवेश का निर्माण करे। अतः आचार्य शुक्ल ने आलोचक के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहणी प्रज्ञा को अपेक्षित माना है। आलोचक में ये गुण किस हद तक हैं, इसका पैमाना भाषा के प्रति आलोचक के रुख से पता चलता है। जो आलोचक रचनाकार की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से किसी तरह का संबंध न रखने वाली बातें अपनी कल्पना से बनाकर भावुक चित्रमयी भाषा में प्रस्तुत करे; रचना के मर्म को साफ, सीधी भाषा में पाठक के समक्ष रखने बजाय स्वयं ही तड़क-भड़क वाली शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास गढ़कर अपनी उक्ति के चमत्कार प्रदर्शन में लग जाए, वह समर्थ आलोचक नहीं है।<sup>1</sup> आलोचना की ऐसी भाषा आलोचक के बुद्धिशैथिल्य के परिचायक होते हैं, न कि उसकी रचनात्मक प्रतिभा के। ऐसी आलोचना-भाषा अगर आलोचना-भाषा का मॉडल बन जाए तो साहित्य-चर्चा का पूरा परिवेश इस बुद्धिशैथिल्य की चपेट में आ जाता है। आलोचना का उसकी भाषा से यह संबंध आचार्य शुक्ल अच्छी तरह जानते थे, अतः आलोचना के क्षेत्र में भाषा की क्रीड़ा का उन्होंने कठोर शब्दों में विरोध किया है।

आलोचना की भाषा को विशुद्ध कविता की भाषा नहीं होना चाहिए लेकिन आलोचना की भाषा को स्थिर या जड़ भी नहीं होना चाहिए। आलोचना भी साहित्य है और यह आलोचक के अनुभव का माध्यम है और उस अनुभव को व्यक्त करने का साधन भी। तो अगर भाषा जड़ होगी, पारिभाषिक होगी तो अनुभव भी जड़ होंगे। आलोचना की भाषा में एक संतुलन की आवश्यकता होती है जो भाषा की सर्जनात्मकता और आलोचक के व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए एक हद तक वस्तुनिष्ठ और पारदर्शी हो।<sup>2</sup> आलोचना और उसके माध्यम भाषा के विषय में नामवर सिंह मानते हैं- “आलोचना कर्म में लगे रहने के अनुभव के आधार पर मैं देखता हूँ कि आखिर जो आलोचना की भाषा आपको मिली है उसी में तो आपको लिखना है।...जो भी आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होता है, वह जानता है कि रचनाकार से कम कठिन संघर्ष उसका नहीं है। किसी रचना का बखान करते समय, किसी कवि का मूल्यांकन करते समय, उस भाषा से जूझना पड़ता है।”<sup>3</sup> भाषा एक व्यवस्था के रूप में मनुष्य द्वारा निर्मित होकर भी अपने नियमों से परिचालित होती है। भाषा के ये नियम व्यवस्थित रूप से विचार करने और विचार को व्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए ही होते हैं। लेकिन लम्बे समय तक समाज द्वारा मानी जाने पर वह व्यवस्था रूढ़ हो जाती है और उसके द्वारा ध्वनित अर्थ या मंतव्य स्थिर हो जाते हैं। इस तरह शब्द या वाक्य वक्ता के इच्छित अर्थ को व्यक्त करने के बजाय उन्हीं अर्थों में समझे जाने लगते हैं जो उनके रूढ़ अर्थ हैं। इस रूढ़ प्रणाली में नयी संवेदना को भरने के लिए कृतिकार को जितनी मेहनत करनी होती है, नये विचारों या विश्लेषण की नयी प्रणाली निकालने के लिए आलोचक को भी आलोचना-भाषा के स्तर पर उसी स्तर का संघर्ष करना पड़ता है। भाषा से इस द्वंद्व में ही आलोचना की नई भंगिमाएँ प्रकट होती हैं। आलोचना-भाषा की सर्जनात्मकता यही है और आलोचक के अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का निदर्शक भी।

आलोचना रचना के मूल्यांकन से जुड़ी हुई विधा है और मूल्यांकन का आधार वस्तुनिष्ठ तथा पक्षपातरहित होना चाहिए, यह मूल्यांकन की शर्त होती है। वस्तुनिष्ठता तथा पक्षपातहीनता के लिए आलोचना-भाषा को किसी विचारधारा विशेष की शब्दावली से बचने और साहित्य की दुनिया के उपयुक्त अपनी स्वायत्त पारिभाषिक शब्दावलियाँ तथा मुहावरे रचने की बात कही जाती है। इसके जवाब में 'आलोचना की स्वायत्तता' शीर्षक अपने लेख में नामवर सिंह लिखते हैं- "आलोचना की भाषा शून्य में निर्मित नहीं होती; वह पहले से ही विविध सांस्कृतिक परतों से छनती हुई आती है और उस पर उन स्तरों की छाप भी होती है।"<sup>4</sup> शब्दों के विषय में नामवर सिंह इस भ्रम का विरोध करते हैं कि कोई शब्द एकदम निर्दोष हो या उस पर किसी न किसी विचारधारा की छाप न हो। आलोचना की भाषा को शुद्धतावादी बनाने से अधिक वे आलोचक में अपनी भाषा के साथ-साथ विचारधारा के प्रति जागरूकता की माँग करते हैं। यह जागरूकता ही वस्तुनिष्ठ दृष्टि को पाने का साधन हो सकती है।

आलोचना को साहित्य की प्रभाववादी समीक्षा न मानकर समाज को दिशा देने में उसकी साहित्यिक-सांस्कृतिक-वैचारिक भूमिका मानने वाले आलोचकों ने आलोचना-भाषा में उलझाव, अस्पष्टता और अमूर्तन को ठीक नहीं माना है। भाषा से आलोचना के संबंध के विषय में मैनेजर पांडेय ने समकालीन हिंदी आलोचना का उदाहरण देते हुए लिखा है- "हिंदी आलोचना की वर्तमान दुर्दशा का एक कारण आलोचना की वह भाषा भी है जो पाठकों को बूझो तो जानें की चुनौती देती हुई उन्हें कभी अंगूठा दिखाती है तो कभी मुँह चिढ़ाती है। पचास-साठ के दशक से हिंदी के कुछ आलोचक अमूर्तन और अनुवाद से भरी ऐसी भाषा में आलोचना लिखते चले जा रहे हैं, भाषा के रहस्यवाद की सरहद को छूती है। इधर हाल के वर्षों में कुछ लोग अनुवाद का भी कष्ट नहीं करते, वे सीधे अंग्रेजी शब्दों

के सहारे आलोचना लिख रहे हैं। हिंदी आलोचना की भाषा को इस बीमारी से बचाना जरूरी है और उसे रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, विजयदेव नारायण साही और नामवर सिंह की आलोचना की सहज, संवेदनशील और जानदार भाषा से जोड़ना जरूरी है जो पाठक की बुद्धि को जगाती, संवेदना को सक्रिय बनाती और स्मृति को अनुप्राणित करती है।”<sup>5</sup> आलोचना का उद्देश्य पाठक की बुद्धि को जगाना तथा सूचनाओं के दबाव से कुंद पड़ती उसकी संवेदना को सक्रिय बनाना और उसकी स्मृति को अनुप्राणित करना है, तब आलोचना ठस या अमूर्त-अस्पष्ट भाषा में, अनुवाद की बोझिल भाषा में या विदेशी भाषा की अपरिचित भंगिमाओं के भीतर से अपना काम नहीं कर सकती। उसके लिए आलोचना की भाषा को सहज, संवेदनशील और जानदार होना चाहिए।

भाषा में उलझाव या अत्यधिक अमूर्तन दृष्टि के उलझाव का भी परिचायक होता है। साहित्य की किसी भी विधा के विषय में एक बात सत्य है कि आरम्भिक प्रयासों में भाषा उलझी हुई हो सकती है, लेकिन अध्ययन और अभ्यास द्वारा उलझावों को दूर करने का प्रयास ही लेखक का कौशल होता है। कवि आलोचक मुक्तिबोध ने इस इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है- “...आज का साहित्यिक जितनी गम्भीरता से अपने प्रत्येक प्रकार के उत्तरदायित्वों को सोचेगा और जीवन के समस्त रूपों के अध्ययन में रुचि और सूक्ष्मता प्रकट करेगा, उतनी ही उसकी साहित्य शक्ति तीव्र और प्रभावोत्पादक होगी। यदि वह अपने सब्जेक्ट मैटर के यथार्थ में गम्भीरता से प्रवेश करेगा तो, न सही एक दिन के प्रयास में, (बल्कि) धीरे-धीरे, क्रम-ब-क्रम, वह पुरानी जड़ीभूत परतों को तोड़कर अपने नये साहित्य-संस्कारों को जन्म देगा, और वह हौले-हौले उसका विकास करता हुआ आगे बढ़ता चला जाएगा। प्रयास के प्रथम चरण की दुरुहता, उलझी अभिव्यक्ति शैली तथा

भावों का सामान्य स्तर लेखक के स्वयं के अनुभवों के सहारे निखरकर हीरे और मोतियों-सी चमकती हुई भावच्छवियों और शब्द-मालिकाओं का रूप धारण कर लेगा।”<sup>6</sup> मुक्तिबोध ने अपनी बात रचनात्मक साहित्य के लेखक को ध्यान में रखकर कही है, परंतु आलोचक की अपनी भाषा के निखार के लिए भी यही प्रक्रिया होती है। रचनाकार हो या आलोचक, अभिव्यक्ति में स्पष्टता और जीवंतता लेखन कार्य के प्रति ईमानदार दृष्टिकोण और पूरी तैयारी से आती है। अतः आलोचना की भाषा आलोचक की ईमानदारी और तैयारी का मापक भी है।

## 5.2 आलोचना की भाषा के संदर्भ में आलोचकों में मतैक्य

आलोचना की साहित्यिक-सामाजिक भूमिका तथा इसके महत्व पर हिंदी के आरम्भिक आलोचकों ने कहीं-कहीं विचार किया है। लेकिन साहित्यिक विधा के रूप में आलोचना की रूपगत और शैलीगत विशेषताओं यानी आलोचना की भाषा पर विचार साहित्य के अकादमिक विषय बनने के बाद शुरू होता है। हिंदी के प्रमुख चार आलोचकों की आलोचना-भाषा के विवेचन से हमने देखा कि आलोचना की भाषा भी रचना की भाषा की तरह व्यक्तिनिष्ठ होती है। परंतु आलोचना साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में सोद्देश्यता अधिक होती है और यही इस विधा की सार्थकता है। अतः इसमें भाषा के प्रयोग की सर्जनात्मकता और व्यक्तिनिष्ठता की सीमा तय होती है। साहित्य-चिंतक विद्वानों ने आलोचना की सोद्देश्यता को ध्यान में रखते हुए इसकी भाषा पर जो विचार प्रकट किए हैं, उनमें पर्याप्त समानताएँ हैं तो कुछ मत-भिन्नताएँ भी दिखाई पड़ती हैं। आलोचना-भाषा के आदर्श को निर्धारित करने के लिए इस समानताओं और भिन्नताओं का विश्लेषण आवश्यक है।

आलोचना पर गम्भीर विचार डॉ. श्यामसुंदरदास ने 'साहित्यालोचन' में किया है। श्यामसुंदरदास आलोचना को साहित्य की व्याख्या मानते हैं और इस व्याख्या का लक्ष्य रचना के भाव को साधारण पाठक के सामने स्पष्ट करना माना है। आलोचक को वे साधारण पाठक से और यहाँ तक कि कवि और लेखक से भी अधिक ज्ञानसम्पन्न और अध्ययनशील वृत्ति का होना आवश्यक मानते हैं, क्योंकि आलोचना की जो जिम्मेदारी है, साधारण पाठक तक साहित्य के गहरे मर्म को पहुँचाना, वह बिना ज्ञानी आलोचक के संभव नहीं। साधारण पाठक समाज को संदर्भ-बिंदु मानकर ही आलोचना के अर्थ और उद्देश्य को वे परिभाषित करते हैं। इसी तरह आलोचना की भाषा कैसी हो, इसका निर्धारण भी वे इसी संदर्भ बिंदु से करते हैं। हालांकि वे आलोचना को किसी भी तरह साहित्य रचना से कमतर नहीं मानते, इन दोनों को एक ही कार्यक्षेत्र की दो कार्य-प्रणालियाँ या शक्तियाँ मानते हैं। रचना और आलोचना की कला में भेद बताते हुए वे लिखते हैं- "साहित्यकार जीवन की अनुभूतियों को अपनी कला से इस प्रकार अभिव्यंजित करता है कि वे अभिव्यंजन सरस और संवेदनीय हो जाएँ, पर समालोचक उन्हीं अभिव्यंजनों का भावन करके अपनी कला से उनका ऐसा विवेचन करता है कि उनका मूल्य निर्णय हो जाए। अर्थात् कवि की कला अभिव्यंजनाप्रधान होती है और आलोचक की कला विवेचना-प्रधान। एक का लक्ष्य होता है संवेदन और दूसरे का लक्ष्य होता है मूल्य निर्णय अथवा निर्धारण। इसी लक्ष्य-भेद से दोनों की प्रक्रिया में भी भेद होता है—कवि की प्रक्रिया तरंगों में बहने वाली भावना-प्रधान होती है, और आलोचक की प्रक्रिया होती है सीधी, सरल, स्थिर और दोनों ओर देखकर चलने वाली विज्ञान-प्रधान।"<sup>7</sup> इस प्रकार श्यामसुंदरदास जी आलोचक की चिंतक-प्रक्रिया को वैज्ञानिक और उसकी लेखन-शैली को उसी अनुरूप विवेचना-प्रधान मानते हैं। यही कारण है कि वे आलोचक के लिए उसकी अपनी निश्चित शब्दावली का होना आवश्यक

मानते हैं। उनके अनुसार आलोचक एक ऐसा पारखी है जिसकी तराजू के बटखरे उसके शब्द ही हैं। बटखरों का मान अगर निश्चित न हो तो उसका सारा व्यापार बिगड़ जाने की संभावना रहती है। अतः आलोचक को अपने शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयोग करना चाहिए। शब्दों के निश्चित अर्थ में प्रयोग का महत्व वे आलोचक के लिए ही नहीं बल्कि पाठक और रचनाकार के लिए भी आवश्यक मानते हैं।

अपनी स्वयं की पारिभाषिक शब्दावली होने के अलावा आलोचक के लिए आलोच्य कवि या लेखक की पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान भी वे अतिआवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि पारिभाषिक शब्द वे होते हैं जिनका प्रयोग कवि अपने समस्त रचना-कर्म में किन्हीं खास अर्थों में करता और उनका वही अर्थ आलोचक को लेना चाहिए जो कवि या लेखक द्वारा मान्य हो।<sup>8</sup>

साहित्य की आलोचना के स्वरूप पर विचार करते हुए श्यामसुंदरदास अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि “यदि विचारकर देखें तो हमारा साहित्यालोचन क्या है—कुछ शब्दों की व्याख्या, जैसे- कला, साहित्य, काव्य, कविता, उपन्यास, नाटक, निबंध, रस, शैली, आलोचना आदि। इस प्रकार यह सब शब्दों की ही लीला है, अतः शब्दकार और उसकी कृति के साथ यदि न्याय करना हो तो शब्दों का विचार और व्यवहार दोनों ही ठीक होना चाहिए।”<sup>9</sup> साहित्य की आलोचना शब्दों के माध्यम से शब्दों के ही व्यापार की व्याख्या और मूल्यांकन की कला और विज्ञान है। अतः आलोचक के लिए शब्द के हर प्रकार के प्रयोग के ज्ञान के साथ-साथ अपनी खुद की भाषा और शब्दावली की साधना को वे जरूरी मानते हैं। आलोचक में शब्द-शक्ति का ज्ञान, साहित्य की आत्मा, साहित्यिक-रूढ़ि और मौलिक उद्भावना में अंतर की शक्ति, निश्चित मानदंड आदि के न होने को वे भयंकर दोष मानते हैं। पर साथ ही एक अन्य दोष को इन से अधिक घातक मानते हैं और

वह है आलोचक की भाषा-शैली की गहनता और अस्पष्टता। इस संबंध में उन्होंने लिखा है-

“एक और दोष आलोचना के लिए बड़ा घातक होता है। वह है भाषा और शैली की गहनता तथा अस्पष्टता।...जो लोग समास शैली और क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं उनसे कभी-कभी हानी हो जाती है और अधिक लाभ तो कभी भी नहीं होता, क्योंकि उन आलोचनाओं की भी फिर व्याख्या करनी पड़ती है। अतः व्यास शैली और सरस व्यवहार ही आलोचना में आदर्श माना जाता है।”<sup>10</sup>

श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचना संबंधी विचारों से भाषा तथा आलोचना के संबंध में जो बिंदु प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं-

- आलोचना विवेचना-प्रधान शास्त्र है, अतः इसकी पद्धति सरल, सीधी और स्थिर होनी चाहिए।
- वैज्ञानिक विवेचन के उपयुक्त आलोचक की भाषा में शब्दों के अर्थ निश्चित होने चाहिए।
- आलोचक को आलोच्य कवि या लेखक की पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान होने के साथ-साथ शब्दशक्तियों का भी ज्ञान होना चाहिए।
- आलोचना की भाषा में क्लिष्ट और सामासिक पदावली का प्रयोग न होकर व्यास शैली की सरस भाषा का व्यवहार होना चाहिए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचना की भाषा में ऐसे प्रयोगों को उचित नहीं माना है जो विचार के मार्ग में बाधक बनें। शब्द की कारीगरी को वे निबंध विधा में कारगर मानते हैं लेकिन आलोचना में नहीं क्योंकि आलोचना की उनकी परिभाषा अनुसार वह कलात्मक

साहित्य की वैज्ञानिक विवेचना है। श्यामसुंदरदास की ही तरह वे भी आलोचना में भाषा के प्रकार्य को रचनात्मक साहित्य से अलग मानते हैं तथा इसमें भाषा के संकेतात्मक प्रयोग को अपेक्षित मानते हैं न कि भावात्मक पक्ष को। उनका भी मानना है कि आलोचना जैसे विचारप्रधान लेखन में भाषा का प्रयोग इस सावधानी से हो कि पढ़नेवालों में भ्रम की संभावना न रहे। क्योंकि आलोचना को वे भी ऐसी ही विधा मानते हैं जिसे कोई इसी उद्देश्य से पढ़ता है कि कवि के भाव उसके सामने स्पष्ट हो जाएँ।

नामवर सिंह मानते हैं कि आलोचना-भाषा का निर्णायक आलोचक की अपनी चिंतन-प्रक्रिया ही नहीं होती बल्कि उसका लक्षित पाठक-वर्ग भी होता है। जिस आलोचक का लक्ष्य विद्वत-समाज होगा, उसकी आलोचना उस वर्ग को कायल करने लायक शास्त्रीय शब्दावली से भरी होगी। इसके बरअक्स जिस आलोचक का लक्ष्य सामान्य पाठक तक पहुँचना है, वह आलोचना की शास्त्रीय शब्दावली से भरसक परहेज करेगा क्योंकि उसका लक्षित पाठक शास्त्रज्ञ नहीं है। नामवर सिंह मानते हैं कि आलोचना की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो आलोचना को पठनीय बनाए और इस पठनीयता का लक्ष्य सामान्य पाठक होना चाहिए। आलोचना की भाषा ऐसी पारिभाषिक शब्दावलियों का अटाला नहीं होनी चाहिए जिसको समझने के लिए अलग से विशेष शिक्षा की आवश्यकता पड़े। 1995 में 'शताब्दी के आखिरी दौर में हिंदी आलोचना' पर विचार करते हुए एक व्याख्यान में नामवर सिंह ने कहा है- "कवि, उपन्यासकार, कहानीकार जो नया कुछ रच रहा है, वह भाषा तोड़कर एक नई भाषा गढ़ रहा है। जबतक किसी विधा में भाषा को तोड़कर नई भाषा नहीं बनाई जाती, नया सृजन नहीं होता। आज भी आलोचना, आलोचना के प्रत्ययों, अवधारणाओं और पारम्परिक भाषा से इतनी जकड़ी हुई है कि वह नई बन ही नहीं सकती।..अतः नया सिद्धांत गढ़ने के लिए जरूरी है कि अपनी भाषा का जाल, परिभाषाओं, प्रत्ययों और सारी

शब्दावलियों को शक्र की नज़र से देख कर तोड़ना होगा ।...जिस दिन यह भाषा तोड़कर हम नयी भाषा बनाएंगे, आलोचना पढ़ने लायक होगी, अन्यथा वह चोरों की या उनके गिरोहों की एक कूटभाषा बनेगी, जिसमें खग बोलेगा और खग ही सुनेगा ।”<sup>11</sup> जिस तरह श्यामसुंदरदास ने माना है कि समालोचना कुछ शब्दों में निहित संकल्पनाओं और उनकी व्याख्या नाम है और उन संकल्पनाओं की समीचीन व्याख्या, यानी शब्दों में प्रसंगानुकूल स्पष्ट और संप्रेषणीय अर्थ की प्रतिष्ठा समालोचक का एक मुख्य काम है, उसी तरह नामवर सिंह भी आलोचना की परिभाषा-प्रत्ययपूर्ण शब्दावली को संदेह की नज़र से देखकर उसे तोड़ने की बात कहते हैं । संदेह से देखने का अर्थ उन परिभाषाओं और प्रत्ययों की प्रसंगानुकूलता और उनमें निहित विचारधारा की जाँच करना है जो आलोचना की शब्दावली में व्यक्त होती है ।

बौद्धिकता के छद्म आडम्बर से आलोचना की भाषा में जानबूझकर लाई गई अपारदर्शिता और रहस्यवाद का विरोध करते हुए मैनेजर पांडेय भी आलोचना की पठनीयता और सोद्देश्यता को अक्षुण्ण रखने की बात कहते हैं ।<sup>12</sup>

आलोचना-भाषा के संबंध में आलोचक इस बात पर एकमत हैं कि वह संप्रेषणीय और बहुत हद तक अभिधात्मक होनी चाहिए । आलोचना-भाषा की व्यक्तिनिष्ठता का पक्ष लेने वाले आलोचक भी व्यक्तिनिष्ठता को स्पष्टता की शर्त पर स्वीकार करने के पक्षपाती नहीं हैं ।

### 5.3 आलोचना की भाषा के संदर्भ में आलोचकों में मतभिन्नता

डॉ. श्यामसुंदरदास ने आलोचना को कला माना है लेकिन उस कला में भाषा की कलाकारी को उचित नहीं माना है । उनके विचार से आलोचना की भाषा व्यास शैली की

सरल और सरस भाषा होनी चाहिए। आलोचना-भाषा में स्पष्टता होनी चाहिए, यह मानते हुए भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल व्यास शैली को निबंध और आलोचना की भाषा के लिए बहुत उपयुक्त नहीं समझते, क्योंकि इस शैली में 'विचार की वह गूढ़ गुंफित परम्परा नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े।'<sup>13</sup>

परवर्ती आलोचकों ने आलोचना-भाषा के सवाल को केवल माध्यम का सवाल नहीं माना है बल्कि इसे आलोचना का औजार माना है। आलोचना की भाषा पर विचार करते हुए कहा है कि आलोचना की भाषा आलोचक के चयन पर निर्भर नहीं करती है बल्कि रचना से संवाद करते हुए आलोचक कौन-से सवाल पूछता है या उठाता है, वे सवाल उसकी भाषा को तय करते हैं। अतः आलोचक की भाषा व्यास शैली की होगी या समास शैली की, वह इसी बात से तय होगा कि रचना का साक्षात्कार आलोचक कितनी गहरी संवेदना के साथ करता है। अशोक वाजपेयी मानते हैं कि आलोचना के उपयुक्त भाषा वही हो सकती है जिसमें इतना लचीलापन हो कि वह बारीक-से-बारीक रचनाओं का वास्तविक संघटन उद्घाटित कर सके। साथ ही उसमें प्रसंगहीन सरलीकरण से भरे ठंडे वाक्य न हों। आलोचना की भाषा को आत्मीय ईमानदार संवाद की भाषा होनी चाहिए, भले उसमें क्लिष्टता और तलाश का उबड़-खाबड़पन हो। इस प्रसंग में डॉ. नगेंद्र और मुक्तिबोध की आलोचना-भाषा के विषय में अशोक वाजपेयी की टिप्पणी द्रष्टव्य है-

-“(मुक्तिबोध) की तीन आलोचना-पुस्तकों में कई बार कष्टसाध्य भाषा का प्रयोग हुआ है: वह अक्सर सूक्ष्म होने की कोशिश में पांडित्यपूर्ण और दुरूह हो गई है। पर इसके बावजूद वह सार्थक और प्रसंगानुकूल भाषा है: उसमें एक तलाश है समकालीन दबावों और तनावों के प्रति खुला रहकर, उनसे प्रतिकृत होते हुए, अपने समय की रचनाओं को समझने और उनकी सार्थकता को परिभाषित करने में सक्षम धारणाओं को विकसित करने

की। इसलिए ज्ञान से बोझिल होते हुए भी उनकी आलोचना जीवंत वार्तालाप है।...आप मुक्तिबोध के विचारों या निष्कर्षों से सहमत न हों तो भी आप उनकी आलोचना को एक जीवंत और मूल्यवान वार्तालाप पाएंगे, जो आपको कई नए संबंध और संयोग देखने-पहचानने के लिए मजबूर कर देगा।”<sup>14</sup>

-“इसका ठीक उलटा उदाहरण है नगेन्द्र जैसे पंडित की आलोचना। शाश्वत तत्त्वों से आक्रांत और समकालीनता से असम्बद्ध होने के कारण नगेन्द्र जो सवाल पूछते हैं वे अगर व्यर्थ नहीं तो अप्रासंगिक जरूर हैं। नतीजा यह है कि उनकी आलोचना भी अगर व्यर्थ नहीं तो प्रायः अप्रासंगिक है। उनकी धारणाएँ लचीले और सूक्ष्म औजारों का काम नहीं देतीं, जिनसे वास्तविक रचनाओं का संघटन सार्थक ढंग से उजागर हो सके: वे लगभग जिद हो गईं रूढ़ियाँ हैं। नगेन्द्र की भाषा इसीलिए अपने सारे घटाटोपी पांडित्य के बावजूद अप्रामाणिक भाषा है। उसमें मुक्तिबोध जैसी मानवीय तात्कालिकता और निजीपन न होकर सूक्ष्मताहीन ठंडापन है। उसकी ऊपरी गरिमा इस तथ्य को छुपा नहीं सकती कि वह कोई वार्तालाप नहीं है और वह शब्दों की एक निष्करण और अविश्वसनीय परम्परा भर है। मुक्तिबोध की ऊबड़-खाबड़, दुरूह और कष्टसाध्य भाषा तलाश की भाषा है, साहित्य की समकालीन जटिलताओं और अंतर्विरोधों को किसी संगत समायोजन में गूँथने-देखने की भाषा है। नगेन्द्र की भाषा आत्मतुष्ट सिद्धि की भाषा है, लेकिन ऐसी सिद्धि की जिसकी तह में कुछ प्रसंगहीन सरलीकरण है; वह तनावहीन भाषा है।”<sup>15</sup>

अशोक वाजपेयी जैसे संवेदनशील रचनाकार और पाठक आलोचना की भाषा को इतनी बारीकी से विश्लेषित कर सके हैं तो इसके पीछे भाषा संबंधी आधुनिक चिंतन और उससे बदली धारणाओं का योगदान है जिसके अनुसार, “...भाषा एक माध्यम मात्र नहीं है: वह अनुभव को सम्प्रेषित ही नहीं करती, बल्कि स्वयं रचनात्मक अनुभूति का अंग है।

इस बात का सीधा मतलब है कि अब तक कथ्य और शिल्प, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच जो मोटा-मोटा-सा विभाजन हम करते आए थे, वह बदल गया है, बल्कि निहित द्वैत अब रचनात्मक सत्ता के लिए अप्रासंगिक होने लगा है। नए लेखक के लिए, इसलिए, भाषा के प्रति नई जागरूकता और चिंता उस नयी दुनिया के प्रति चिंता का पर्याय हो गई है जिसमें कि वह रहने को बाध्य है।<sup>16</sup> इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी के पुराने आलोचकों की तुलना में नए आलोचकों का सम्पर्क भाषा-संबंधी अधिक बारीक तथा वैज्ञानिक चिंतन से है अतः आलोचना-भाषा का सवाल उनके लिए केवल पाठक की समझ में आने वाली सम्प्रेष्य भाषा का सवाल नहीं है। आलोचना-भाषा से आलोचक और आलोच्य के संबंध की थाह भी मिलती है। तनावहीन, तलाशहीन, निश्चित भाषा और उससे झलकने वाली आलोचक की पूर्वाग्रही दृष्टि के संबंध को पकड़ने में परवर्ती आलोचक सक्षम दिखते हैं।

एक जड़ या 'फिक्स्ड' आलोचना-भाषा लगातार जटिल होते मानवीय परिदृश्य को विश्लेषित करने में सक्षम नहीं होती, क्योंकि जड़ भाषा और जड़ दृष्टिकोण में पारस्परिकता का संबंध है। अशोक वाजपेयी इसी कारण आलोचना-भाषा से यह माँग करते हैं कि नयी रचनाशीलता की तरह नयी आलोचना भी कई क्षेत्रों और अनुशासनों की भाषाएँ लेकर अपने समय की बहुरूपता को परिभाषित करे।<sup>17</sup> साथ ही वे नामवर सिंह तथा देवीशंकर अवस्थी जैसे अपने समकालीन आलोचकों की भाषा को जीवंत आलोचना-भाषा मानते हैं क्योंकि भले ही “ उनके मुहावरे व्यक्तिगत हैं, उनके निर्णय भी अलग-अलग हैं : पर उनकी भाषा हमेशा समकालीन तनाव से प्रतिकृत हो रहे ऐसे आदमी की भाषा है जो साहित्य के प्रति सहज भाव से खुले हैं और जिनकी सच्ची जिज्ञासा आज आदमी की हालत समझने की है।”<sup>18</sup> आलोचक सबसे पहले एक व्यक्ति है। उसकी भाषा उसके सरोकारों, उसकी चिंताओं और उसके प्रयासों को पारदर्शिता के साथ उभारने वाली होनी

चाहिए, क्योंकि जागरूक साहित्यकार और जागरूक पाठक दोनों ही आलोचक के मूल्यांकन से अधिक उसके भीतर के व्यक्ति से तादात्म्य स्थापित कर आलोचना का मर्म ग्रहण करते हैं।

मैनेजर पांडेय मानते हैं कि आलोचना की भाषा आलोचक की विचारधारा की निदर्शक होती है क्योंकि शब्द विचारधारात्मक इकाई होते हैं और शब्दों का चयन विचारधारा के अनुरूप ही होता है। आलोचना की भाषा को कविता की भाषा जैसी नहीं होनी चाहिए जिसमें उपमा-रूपक और अन्योक्ति-शैली द्वारा कोई अन्योक्ति पद्धति से कोई मनोरम अर्थ-व्यापार खड़ा किया जाए। वे मानते हैं कि इससे आलोचना में दुर्घटना होने की संभावना रहती है। आलोचना की भाषा आलोचक की ईमानदारी और उसके मूल्यांकन की सत्यता को भी सम्प्रेषित करती है, अतः आलोचक को अतिशयोक्ति तथा अतिरंजना की भाषा से बचना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही वह ठस या बिझिल नहीं होनी चाहिए बल्कि उसमें व्यंग्य-विनोद के भरी सजीवता का पुट भी होना चाहिए।<sup>19</sup>

## 5.4 आलोचना-भाषा का आदर्श

आलोचना एक सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक कर्म होने के साथ-साथ साहित्य की एक विधा और लेखन की एक विशिष्ट शैली भी है। प्रभावशाली आलोचना केवल प्रतिबद्धता या समझदारी और संवेदनशीलता से नहीं लिखी जाती बल्कि इसके लिए लेखन के विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। अच्छा आलोचक एक कुशल लेखक भी होता है। कुशल लेखक के भीतर यह विवेक होना आवश्यक माना जाता है कि उसकी भाषा में ध्वनि, शब्द, वाक्य का कैसा संयोजन पाठक के ध्यान और उसकी स्मृति को अत्यधिक प्रभावित करेगा। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजन में 'कांतासम्मित उपदेश' को

प्रमुख माना है, यानी साहित्य का प्रयोजन पाठक को उपदेश देना तो है लेकिन यह उपदेश नीरस या कठोर न होकर प्रिय के शब्दों के समान सरस होना चाहिए। काव्य की भाँति आलोचना के लिए भी यह बात सत्य है। आलोचक अपनी विशिष्ट भाषा-शैली से पाठक को अपने कथ्य के प्रति आकर्षित ही नहीं करता, बल्कि अपने निष्कर्षों के प्रति उसमें विश्वास भी जगाता है।

डॉ. नगेंद्र जैसे कुछ आलोचकों ने आलोचना को आलोचक की आत्माभिव्यंजना माना है<sup>20</sup>, लेकिन इनसे इतर अधिकांश आलोचक आलोचना को समय और समाज से संवाद मानते हैं। रचना भी संवाद है लेकिन उसकी प्रकृति अंतर्मुखी अधिक होती है, आलोचना की प्रकृति अधिक बहिर्मुखी होती है। कहने से अधिक बताने का उद्देश्य इसमें प्रमुख होता है। और बताने की भाषाई मुद्रा साधारणतः ऐसी होती है जैसे कोई सार्वभौमिक सत्य कहा जा रहा हो। यानी आलोचना की प्रचलित भाषा की वाक्य-संरचना सामान्यतः निर्देशात्मक होती है। परंतु सजग और संवेदनशील आलोचकों ने आलोचना में निर्देशात्मक वाक्य की निस्सारता को पहचाना है और उसके प्रयोग से बचते रहे हैं। आलोचक शिवदानसिंह चौहान भी आलोचना में 'होते हैं' जैसे निश्चयात्मक स्वर से बचने की सलाह दी है।<sup>21</sup> ()

वेलर एम्बलर ने अपने लेख 'द लैंग्वेज ऑफ क्रिटिसिज्म'<sup>22</sup> में आलोचना में भाषा की प्रचलित मुद्राओं या शैलियों का विश्लेषण करते हुए जो निष्कर्ष दिए हैं, वे आलोचना-भाषा के आदर्श को समझने में बहुत मददगार हैं। आलोचना साहित्य विषयक ज्ञान को व्याख्यायित करने वाला कर्म और इस अर्थ में यह एक ज्ञानानुशासन भी है। ज्ञानानुशासन की भाषा, किसी विषय का ज्ञान कराने वाली टेक्स्ट बुक की भाषा में वाक्य अधिकांशतः इंडिकेटिव मूड के यानी निर्देशवाचक या निश्चयात्मक होते हैं, जो सामान्यतः तथ्यकथन की

शैली है। इस शैली में बात इस तरह प्रस्तुत की जाती है जैसे वह पूर्वज्ञात निर्विवाद सत्य हो। मानव का यह स्वभाव है कि इस शैली में कही गई बात को वह तथ्य की तरह स्वीकार कर लेता है। इसीलिए एम्बलर का कहना है कि विज्ञान से जुड़े विषयों में इस तरह की वाक्य संरचना प्रयुक्त हो सकती है, पर साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों द्वारा इस तरह के वाक्यों के प्रयोग के प्रति सतर्क रहना चाहिए। आलोचना अपनी पद्धति में कितनी भी वस्तुनिष्ठ हो, अपने मूल्यांकन में वह वैयक्तिक अभिरुचि से प्रेरित होती है। अतः आलोचक को निर्विवाद तथ्यकथन की निर्देशात्मक भंगिमा के प्रयोग से बचना चाहिए क्योंकि यह पाठक के लिए भ्रामक भी हो सकती है। पाठक को भी वे सलाह देते हैं कि किसी कृति से संबंधित आलोचक के निर्णय को स्वीकार करने से पहले कृति का साक्षात्कार स्वयं करना चाहिए।

‘इंडिकेटिव मूड’ के बदले एम्बलर आलोचना में ‘क्रिएटिव मूड’ की वाक्य-संरचना को अच्छे आलोचकों की शैली बताते हैं। आलोचक का क्षेत्र कृति से प्राप्त अनुभवों के आधार पर विचार (आइडिया) का निर्माण है न कि राय (ओपिनियन) बनाने का। विचार का निर्माण विषय-विश्वास-सृजनात्मक शैली के मेल से होता है। विचार न तथ्य है और न ही राय, बल्कि यह विचार करने वाले का मौलिक कर्म है, अतः इसकी भाषा स्वभावतः सृजनात्मक होगी। इस प्रकार एम्बलर मौलिक विचार कर सकने वाले सृजनशील आलोचक और लकीर के फकीर या पूर्वाग्रही आलोचक की पहचान उसकी वाक्य संरचना के आधार पर ही करने के सूत्र देते हैं।

आलोचना-भाषा में अर्थ की स्पष्टता की बात आलोचकों ने कही है और वह आवश्यक भी है लेकिन आलोचना की भाषा को एकदम जड़ पारिभाषिक शब्दावली से युक्त करने को एम्बलर की तरह ही नामवर सिंह भी हानिकारक मानते हैं।<sup>23</sup> साहित्य जीवन

का एक भरापूरा कतरा है और जीवन की तरह ही गतिशील और बहुस्तरीय है, अतः साहित्य में पारिभाषिक शब्दावली की स्थिर भाषा किसी काम की नहीं होती। साहित्य की तरह आलोचना भी जीवन के अनुभवों से संबंधित क्षेत्र में अपना काम करती है, कला और जीवन के संबंध पर विचार करती है और इसकी व्याख्या करती है। जीवन और कलाओं पर विचार करने के क्रम में किसी भी क्षेत्र या विषय के किसी भी तरह के शब्द और हर तरह की भंगिमा कारगर होती है, बशर्ते वह विचार और व्याख्या सार्थक हो। आलोचना की भाषा में कुछ भी अस्वीकार्य नहीं है, सिवाय जड़ता और निरर्थक कलाबाजी के।

आलोचना में कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं जो आलोचकों द्वारा बीज शब्द या तकनीकी शब्दावली की तरह प्रयुक्त किए जाते हैं। लेकिन ऐसी शब्दावली पर उसके प्रवर्तक की निजी विचारधारा की छाप होती है। अन्य आलोचक ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हुए प्रवर्तक का ऋण-स्वीकार अवश्य करते हैं क्योंकि इन शब्दों का सही अर्थ-संदर्भ इनके प्रवर्तक द्वारा दिए गए अर्थ में ही होता है, उनके रूढ़ या कोशीय अर्थ में नहीं। आलोचना की भाषा में अन्य अनुशासनों के शब्दों और मुहावरों के प्रयोग को आलोचना-दृष्टि के विस्तार का परिचायक बताया गया है।

आलोचना की बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी भाषा कैसी होनी चाहिए, परंतु उपलब्ध भाषिक नमूनों का विश्लेषण करके उद्देश्य की सार्थकता, सम्प्रेषण की सफलता के आधार पर यह समझा जा सकता है कि किस तरह की भाषा आलोचना के उपयुक्त नहीं है। आलोचना एक सर्जनात्मक विधा है और इसमें भाषा के स्तर पर अनगिनत प्रयोगों की संभावना है।

## संदर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, 307
2. वाद विवाद संवाद, 19
3. आलोचना और विचारधारा, 191
4. वाद विवाद संवाद, 36
5. आलोचना की सामाजिकता, 35
6. नयी कविता का आत्मसंघर्ष, 90
7. साहित्यालोचन, 223-224
8. वही, 225
9. वही, 227
10. वही, 229
11. आलोचना और विचारधारा, 179
12. आलोचना की सामाजिकता, 35
13. हिंदी साहित्य का इतिहास, 278
14. फिलहाल, 187
15. वही, 187
16. वही, 188
17. वही, 188
18. वही, 189
19. शब्द और साधना, 114
20. आस्था के चरण, 218

21. चौहान, शिवदानसिंह, 1955, साहित्यानुशीलन, नई दिल्ली: आत्माराम एंड संस,  
13

22. EMBLER, W. (1965). THE LANGUAGE OF CRITICISM.  
ETC: A Review of General Semantics, 22(3), 261–277